



International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519

IJSR 2015; 1(2): 34-36

© 2015 IJSR

www.sanskritjournal.com

Received: 11-01-2015

Accepted: 08-02-2015

Dr.(Smt.) Raju S. Bagalkot
Assistant Professor,
Department of Hindi,
S.V.University, Triupati

पृथ्वीराज रासो की हिन्दी भाषा

Dr.(Smt.) Raju S. Bagalkot

हिन्दी के चारण काल की डिंगल.साहित्य संबन्धी परम्परा के अंतर्गत जो वीरगाथाएँ आती हैं। उनमें से दलपति विजय कृत 'खुमान रासो', नरपति नाल्ह कृत 'बीसलरेव रासो', चंदवरदाई कृत 'पृथ्वीराज रासो', भट्टकेदार कृत 'जयचंद प्रकाश', मधुकर कृत 'जयमयंक.जसचंद्रिका' तथा जगनिक कृत 'आल्हखंड' प्रसिद्ध हैं। इन सभी ग्रंथों का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि चंदवरदाई कृत 'पृथ्वीराज रासो' की समता करने की क्षमता किसी भी ग्रंथ में नहीं है। 'पृथ्वीराज रासो' इस युग की सर्वोत्कृष्ट रचना है। यह एक विशाल महाकाव्य है, जो हिन्दी का सर्वप्रथम महाकाव्य कहलाता है।

जिस समय तक हिन्दी का कोई व्यवस्थित रूप नहीं बना था और संस्कृत तथा प्राकृत के साथ-साथ अपभ्रंश भाषाओं में प्रायः ग्रंथ रचना होती थी। यद्यपि उस समय अपभ्रंश भाषा में जैन ग्रंथों की रचना अधिक मात्रा में होती थी।, फिर भी सिद्ध एवं नाथ सन्तों के द्वारा एक ऐसी भाषा का भी निर्माण हो रहा था, जो उस काल की साहित्यिक भाषा अपभ्रंश से कुछ भिन्न सर्वसाधारण की बोलचाल की भाषा के अधिक निकट थी। उस भाषा पर प्रान्त.विशेष का प्रभाव था। इसीलिए उस लोक. प्रचलित एवं सर्वसाधारण की भाषा का कोई व्यवस्थित रूप नहीं था। वह राजस्थान प्रदेश में राजस्थानी की विशेषताओं को, ब्रज प्रदेश में ब्रज की विशेषताओं को अवध प्रान्त में अवधी की विशेषताओं और मिथिला प्रदेश में मिथिला की विशेषताओं को लेकर पनप रही थी। यही कारण है कि उस काल की भाषा पर संस्कृत, प्राकृत एवं तत्कालीन लोक.भाषा सभी की छाप स्पष्ट परिलक्षित होती है। परन्तु जब हम 'पृथ्वीराज रासो' की भाषा का वैज्ञानिक विश्लेषण करते हैं, तब ज्ञात होता है कि उसमें केवल तत्कालीन भाषाओं की छाप विद्यमान हैं, अपितु पन्द्रहवीं एवं सोलहवीं शताब्दी में विकसित ब्रजभाषा की भी स्पष्ट छाप दिखाई देती है। यह माना जा सकता है कि ग्यारहवीं शताब्दी तक मुसलमानों के आगमन के साथ अरबी, फारसी के शब्दों का आदान.प्रदान हो गया था परन्तु सोलहवीं शताब्दी में जाकर ब्रज का जो रूप सुस्थिर हुआ, रासो में उनकी छाया का मिलना रासो की भाषा के बारे में सन्देह उत्पन्न कर देता है। फिर भी इतना तो अवश्य ही मानना

पड़ेगा कि ब्रजभाषा का सोलहवीं शताब्दी वाला रूप रासो में सर्वत्र नहीं मिलता और उसे कुछ विद्वान् प्रतिलिपिकाओं की कृपा एवं कुछ विद्वान् प्रक्षिप्त अंश मानकर सन्तोष कर लेते हैं। फिर भी रासो की भाषा में एकरूपता का न होना विद्वानों के मत.मतान्तर का विषय बन गया है। इसी कारण कुछ विद्वान् यह अनुमान लगाते हैं कि रासो की रचना मूलरूप में अपभ्रंश के ही अन्दर हुई थी, कुछ इसे राजस्थानी (डिंगल) भाषा में रचा हुआ स्वीकार करते हैं। कुछ इसे ब्रजभाषा (पिंगल) में रचा हुआ मानते हैं और कुछ विद्वान् इसे आदि युग की रचना होने के कारण विभिन्न भाषाओं के मिश्रित रूप में रचित स्वीकार करते हैं। इस तरह रासो की भाषा के बारे में प्रमुख रूप से चार मत प्रचलित हैं।

अपभ्रंश भाषा सम्बन्धी मत रासो को मूलतः अपभ्रंश भाषा में लिखा हुआ मानने वाले सर्वप्रथम मुनी जिनविजय हैं। 'पुरातन प्रबन्ध-संग्रह' का सम्पादन करते समय आपको अपभ्रंश भाषा में लिखे हुए एंश चार छप्पय मिले, जो काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित रासो में भी विद्यमान हैं, परन्तु यहाँ वे कुछ परिवर्तित रूप में हैं। आपने इसी आधार पर अपना यह मत स्थिर किया कि रासो मूलरूप में अपभ्रंश भाषा के अन्तर्गत लिखा गया होगा। कालान्तर में उसको विकृत करके राजस्थानी अथवा अन्य भाषाओं का रूप दे दिया है। इस मत के मानने वालों में से दूसरे विद्वान् श्री मथुराप्रसाद दीक्षित हैं,

Correspondence

Dr.(Smt.) Raju S. Bagalkot
Assistant Professor,
Department of Hindi,
S.V.University, Triupati

जो रासो को बाहरवीं शताब्दी की रचना कहकर उस काल में प्रचलित प्राकृत-मिश्रित अपभ्रंश भाषा में ही उसके लिखे जाने का अनुमान लगाते हैं, क्योंकि मतानुसार उस समय राजस्थानी एवं ब्रज का कोई रूप स्थिर नहीं हुआ था। इस मत के तीसरे विद्वान् मुनि कान्तिसागर है, जो सं. 1403 की उपलब्ध रासो-प्रति के आधार पर यह घोसना करते हैं कि रासो की भाषा अपभ्रंश ही थी, परन्तु अभी तक उनकी इस उपलब्ध प्रति का परीक्षण एवं निरीक्षण किसी ने नहीं किया है। इस मत के चौथे विद्वान् भारतीय भाषाविद् डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी हैं, जो रासो को प्राचीन ग्रंथ घोषित करते हुए उसकी भाषा अपभ्रंश ही स्वीकार करते हैं; क्योंकि रासो की भाषा आधुनिक भाषाओं के स्वरूप से सर्वथा भिन्न एवं प्राचीन है। इस वर्ग के पाँचवें विद्वान् डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी हैं। जो 'संदेश रासक' के आधार पर यह अनुमान लगाते हैं कि रासो की भाषा पुरानी हिन्दी थी और यह घोसना करते हैं कि उस समय पुरानी हिन्दी अपभ्रंश भाषा के ही सर्वथा निकट थी। अतः रासो की भाषा को अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी में रचा हुआ ही मानना चाहिए। राजस्थानी भाषा सम्बन्धी मत-रासो की भाषा के सम्बन्ध में दूसरा उन विद्वानों का मिलता है, जो इसे राजस्थानी अथवा डिंगल की रचना बताते हैं इनमें सर्वप्रथम डॉ. दशरथ शर्मा हैं, उन्होंने रासो की भाषा के बारे में पर्याप्त अनुसन्धान किया है और यह निष्कर्ष निकाला है कि रासो एक ऐसी प्राचीन भाषा में लिखा गया जान पड़ता है, जिसमें अपभ्रंश की बहुलता है। सम्भवतः रासोकार अपभ्रंश परम्परा के कवियों में से अन्तिम कवि रहा होगा। परन्तु उसकी भाषा का अधिक झुकाव प्राचीन राजस्थानी की ही ओर है, जो डिंगल कहलाती है। इस तरह आपने प्राचीन राजस्थानी एवं तत्कालीन अपभ्रंश में समन्वय स्थापित करते हुए अपने मत का प्रतिपादन किया है। इस वर्ग के द्वितीय विद्वान् श्री मोतीलाल मेनारिया हैं जो रासो को पूर्णतया राजस्थानी अथवा डिंगल की रचना स्वीकार करते हैं, जिसमें ब्रज, प्राकृत, अपभ्रंश, अरबी, फारसी आदि भाषाओं का सम्मिश्रण मिलता है, परन्तु मूलरूप में यह डिंगल भाषा का ही ग्रन्थ है। इसी वर्ग में तीसरे विद्वान् डॉ. रामकुमार वर्मा आते हैं, जिन्होंने आदिकाल का वर्गीकरण करके पृथ्वीराज रासो आदि सभी ग्रन्थों को चारण-युग की डिंगल भाषा अथवा राजस्थानी भाषा के ग्रन्थ घोषित किया है। पिंगल सम्बन्धी मत-रासो की भाषा को सम्बन्ध में तीसरा वर्ग उन विद्वानों का है, जो इस पिंगल की रचना मानते हैं। इस मत के मानने वालों में से एफ. एस. ग्राड्ज, जॉन बीम्स, डॉ. ग्रियसन, टेसीटोरो, पं. रामचन्द्र शुक्ल, डॉ. श्यामसुन्दरदास, मिश्रबन्धु, डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, डॉ. उदयनारायण तिवारी, डॉ. नामवरसिंह, डॉ. माताप्रसाद गुप्त आदि प्रसिद्ध हैं। इन सभी विद्वानों का कथन है कि रासो की भाषा के गठन, स्वभाव, प्रकृति एवं स्वरूप का अध्ययन करने पर यही जान पड़ता है कि न वह अपभ्रंश है, न डिंगल या पुरानी पश्चिमी राजस्थानी है, न पुरानी ब्रज भाषा है, अपितु यह पिंगल भाषा है, जिसे शौरसेनी अपभ्रंश से निकली हुई उस युग की काव्य-भाषा कह सकते हैं। यहाँ तक कि श्री मोतीलाल मेनारिया ने अपने 'डिंगल मे वीररस' नामक ग्रन्थ में डिंगल भाषा की जिन प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है, वे भी रासो की भाषा से मेल नहीं खाती और रासो में पिंगल भाषा की सी ललित एवं मधुर पदावली, क्रियाओं के रूपों एवं विभक्ति-चिन्हों की ही बहुलता दृष्टिगोचर होती है। अतः डॉ. माताप्रसाद गुप्त का मत यह है कि 'रासो' में पिंगल भाषा का वह रूप हमें मिलता है, जो 'प्राकृत पिंगल' के कुछ ही पीछे विकसित हुआ था।

मिश्रित भाषा सम्बन्धी मत .उक्त तीनों वर्गों के अतिरिक्त कुछ विद्वानों की राय में रासो मिश्रित भाषाओं का ग्रंथ है। इस मत के

मानने वालों में से डॉ. विपिनबिहारी त्रिवेदी प्रमुख हैं, जिन्होंने रासो पर पर्याप्त शोधकार्य करने के उपरान्त 'चन्द्रवरदाई और उनका काव्य' नामक ग्रंथ लिखा है, जिसमें रासो की भाषा का वैज्ञानिक विश्लेषण एवं शोधपूर्ण विवेचन करते हुए आपने बताया है कि "यद्यपि ऊपर कुछ नियम दिये गये हैं, फिर भी रासो की भाषा में एक विलक्षणता यह दिखई देती है कि किसी नियम का अक्षरशः पालन नहीं मिलता। अधिकांश शब्दों के स्वरों और व्यंजनों के रूप में परम स्वच्छन्दता और सम्भवतः छन्द की तात्कालिक आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन मिलते हैं तथा उनके संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, गुजराती, राजस्थानी और हिन्दी रूपों के दर्शन होते हैं।" इतना ही नहीं, आपने यह भी स्वीकार किया है कि "इसमें वैदिक संस्कृत, पालि, पेशाची, मागधी, अर्द्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री, अपभ्रंश, प्राचीन राजस्थानी, प्राचीन गुजराती, पंजाबी, ब्रज आदि भारतीय आर्या भाषाओं के अतिरिक्त अरबी, फारसी, और तुर्की शब्दों की अनोखी खिचड़ी तैयार मिलती है तथा देशज शब्दों की भी एक संख्या है।" इस तरह आप रासो को मिश्रित भाषा का ग्रन्थ मानते हैं।

मत-समीक्षा-किस भाषा की रचना हो सकता है। यदि ध्यानपूर्वक विचार करें तो ज्ञात होगा कि रासो की भाषा के बारे में जो सर्वप्रथम मत 'अपभ्रंश' के पक्ष में दिया गया है वह केवल कुछ पदों तथा अनुमान के आधार पर स्थित है। उस मत के विद्वानों ने सम्पूर्ण रासो की भाषा पर विचार नहीं किया है अपितु वे केवल इसी बात में उलझे रहे हैं कि रासो को अपभ्रंश के समीप तक कैसे ले जायें, जिससे यह प्राचीन ग्रन्थ सिद्ध हो जाय और उसे प्राचीन ग्रन्थ होने का गौरव प्राप्त हो जाय। यदि तनिक ध्यान से देखा जाय तो पता चलेगा कि मुनि जिनविजय ने जिन चार छप्पयों के आधार पर इसकी भाषा को अपभ्रंश बताया है उससे बरे में यह भी तो सम्भव हो सकता है कि किसी कवि ने पीछे से अपभ्रंश के उन चार छप्पयों को रासो की भाषा का रूप देकर इसमें सम्मिलित कर दिया हो क्योंकि 'रासो' में प्रक्षिप्त अंश तो मिलते ही हैं, और फिर जब सोलहवीं शताब्दी के 'रामचरितमानस' में क्षेपकों की भरमार मिलती है तब फिर बारहवीं शताब्दी के 'रासो' में इस कार्य का होना कोई असम्भव बात नहीं। दूसरे 'रासो' का जो रूप आज विद्यमान है, उसमें कुछ शब्दों को छोड़कर शेष शब्दों की प्रवृत्ति एवं प्रकृति अपभ्रंश भाषा से किसी प्रकार मेल नहीं खाती। अतः केवल कुछ शब्दों या चार छप्पयों के आधार पर सारे ग्रंथ को अपभ्रंश मानना किसी तरह न्यायसंगत नहीं दिखाई देता।

इसके अतिरिक्त जब राजस्थानी तथा पिंगल की प्रवृत्तियों के आधार पर रासो का अध्ययन किया जाता है तो रासो में दोनों के ही रूप पर्याप्त मात्रा में मिल जाते हैं। फिर रासो को किस भाषा की रचना कहा जाये?—यह प्रश्न विचारणीय ही बना रहता है। किन्तु रासो के बाह्य साक्ष्य के अतिरिक्त जब हम अन्तःसाक्ष्य पर ध्यान देते हैं तो उसमें भाषा सम्बन्धी दो युक्तियाँ मिलती हैं। प्रथम तो यह है कि कवि षट्भाषा का ज्ञाता है; और दूसरे, कवि ने स्वयं उस काल तक प्रचलित संस्कृत प्राकृत, अपभ्रंश, पेशाची, मागधी एवं शौरसेनी की गणना षट्भाषाओं के अन्तर्गत की है। अतएव उसके काव्य में उक्त छः भाषाओं का स्वरूप होना तो सर्वथा निश्चित—सा ही है। इनमें संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं में तो कवि ने कई पद लिखे हैं; यथा—

संस्कृत

सोमेश्वर महबारी, तस्यापूर्व तपोगुणं।

तेन पुण्य जगज्जेता, गर्भान्ते पृथुराड्ययम॥

प्राकृत एवं अपभ्रंश

नमः संभवायं सख्याय वायं।

नमो रूद्रपायं वरदाय सायं ।।
पसूपत्तए नित्तए मुग्ग पाए ।
कपर्दी महादेव भीमं भवाए ।।

परन्तु इस प्रकार के पदों की संख्या रासों में अधिक नहीं है। रासो में तो उस भाषा की बहुलता है, जिसमें एक और संस्कृत के दुष्ट, पत्र, बह्ना, इन्द्र, त्रैलोक्य, सिद्ध, अनंग, श्रृगार आदि शब्द आये हैं, तो दूसरी ओर प्राकृत एवं अपभ्रंश में प्रयुक्त होने वाले लच्छि, अच्छि, द्विगपाल, लज्जित, सव्यय, ध्रम, सत्त, भष्ण, कष्, धित्त, कित्ति, रत्ति, दब्धि, सद्द, मनुच्छ, ग्रब्ब आदि शब्द भी मिलते हैं। इसी तरह जिसमें एक और दक्खिणि, कारण, असरण, सरण, च्यारि, चौसट्ठ आदि राजस्थानी के शब्द मिलते हैं, तो दूसरी ओर हनंदे, सुहंदी, रहंदी, उडाइयों, कित्तां, आवन्दा, कानवज्जां, हंसाइयां, पाइयां आदि पंजाबी के शब्द मिनते हैं। इसी तरह जिसमें एक ओर ब्रजभाषा के सुराजै, विराजै, कह्यौ, आवै, मार्यौ, चितवै, चहै, धरियो, दुराइ, बसै, कियौ, भई आदि क्रिया रूप भी मिलते हैं, तो दूसरी ओर जिसमें अमीर, जेर, सरम, हसम, सुतर, सहर, षवरि, हरावल, साहिब, अरदास, तन्दूर, असवार, कमान, जमाति, हजूर, अदब्ब, सुरतान, मरद, सिकार, जीन, अहक आदि कितने ही अरबी, फारसी और तुर्की के शब्द भी भरे पड़े हैं।

इस प्रकार रासो की भाषा के अन्तर्बाह्य साक्ष्यों के आधार पर परीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि रासो की भाषा प्रयाप्त प्राचीन है, उसमें एकरूपता नहीं है तथा उसमें तत्सम, तद्भव, अर्द्ध तत्सम, देशज एवं विदेशी सभी प्रकार के शब्दों की बहुलता है। इतना अवश्य है कि जहाँ उसमें युद्ध एवं वीरोत्साह सम्बन्धी वर्णन है, उनमें पुरुषवृत्ति की प्रधानता है, ओजस्विता है, महाप्राणत्व है, द्वित्व की प्रधानता है, सामासिकता है, टकार—बहुलता है और वहाँ पर भाषा ओजस्विता के साथ हुकार करती हुई अग्रसर हो रही है।

अतएव रासो की भाषा के बारे में ही यही मानना पड़ेगा कि वह अपभ्रंश काल के अन्तिम चरण में शौरसेनी अपभ्रंश से निकली हुई काव्य—भाषा हिन्दी के ही आरम्भिक रूप को प्रस्तुत करती है, जिसमें विविधता होकर भी एकता है, प्रयाप्त सम्मिश्रण होने पर भी भावानुकूलता है और विभिन्न भाषाओं का प्रभाव होने पर भी जिसमें कवि के संकेत पर चलने की अपूर्व क्षमता है। निस्संदेह रासो की भाषा हिन्दी के आदिकाल की उस भाषा की ओर संकेत कर रही है। जिस पर एक ओर तो संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि तत्कालीन साहित्यिक भाषाओं का प्रभाव था, किन्तु दूसरी ओर जो अपभ्रंश के साहित्यिक शिकजे से निकल कर लोकभाषा के आधार पर अपना एक स्वतन्त्र रूप ग्रहण कर रही थी। इसलिए रासो हिन्दी-साहित्य के साथ-साथ हिन्दी भाषा के भी गौरवपूर्ण प्राचीन रूप को प्रस्तुत करता है।